वे तो शहीद हुए हैं, मरा तो कुछ और है! कृषि मंत्री के चुनिंदा स्मृति-लोप की क्रोनोलॉजी

बादल सरोज

तीन कृषि कानूनों की वापसी के लिए लड़ते लड़ते किसान आंदोलन में शहीद हुए सातेक सौ किसानों के बारे में संसद में दिए जवाब में केंद्रीय कृषि मंत्री नरेंद्र सिंह तोमर ने कहा है कि ; "कृषि मंत्रालय के पास इस बारे में कोई रिकॉर्ड नहीं है। ऐसे में वित्तीय सहायता देने का सवाल नहीं उठता।"

यह उस सरकार के मंत्री का बयान है जिसके पास पक्की जानकारी थी कि "सारे किसान नहीं बल्कि कुछ मुट्ठी भर गुमराह किसान आंदोलनरत हैं।" जिसके प्रधानमंत्री से लेकर मोबाइल पर व्हाट्सप्प दीक्षांत कार्यकर्ता तक के पास पुख्ता सूचना थी कि आंदोलन करने वाले किसान "खालिस्तानी" हैं, पाकिस्तान से प्रायोजित हैं, चीन से पैसा लेते हैं, इंटरनेशनल एजेंडा चलाते हैं। भाई जी और उनकी सरकार को इस बात की भी एकदम पुष्ट जानकारी थी कि ये सब के सब देशद्रोही हैं।

उनके पास इस बात की भी डेली अपडेट्स थीं कि किस दिन वे पिज़्ज़ा खा रहे हैं, किस दिन खीर और पूड़ी बनी है, किस दिन बिरियानी छकी जा रही है। कि कैसे कैसे आरामदेह गद्दों पर सोया जा रहा है , कि कितनी कितनी गुदगुदी रजाईयाँ ओढ़ी जा रही हैं। एक मोहतरमा मंत्राणी को तो यह भी पता था कि कितने रूपये रोज की दिहाड़ी पर उन्हें दिल्ली लाया जा रहा है उनके पास तो ऐसे महिला पुरुषों की तस्वीरें तक थी।

हैरत की बात है कि जिस सरकार को यह सब पता था, सब कुछ पता था उसे यह नहीं पता कि कितने किसान इस आंदोलन में मारे गए।

किसान- कुल 689 किसान - नहीं मरे, वे तो देश की खेती और किसानी को कारपोरेट भेड़ियों के जबड़े से वापस छीनकर ले आने की देशभक्तिपूर्ण लड़ाई में शहीद हुए हैं ; मरा तो कुछ और है। मरा तो वह नैतिक, राजनैतिक, मानवीय उत्तरदायित्व है जो किसी

भी निर्वाचित सरकार के होने की पहली पहचान होती है। मरी हैं सहानुभूति और संवेदनायें, मरी हैं इंसानियत, मरी है सभ्यता की पहचान। अपने नागरिकों की दु:ख तकलीफों के प्रति संवेदना, उनकी पीड़ादायी मौतों के समय उनके प्रति सहानुभूति रखना सरकार की ही नहीं सभ्य समाज की पहचान है। मौजूदा सरकार इस मानवीय गुण से पूरी तरह वंचित है।

कृषिमंत्री उसी समुदाय के हैं जिसके मुखिया ने पूरी साल भर, यहां तक कि 19 नवम्बर के अपने 18 मिनट के "एक तपस्वी की आत्मरति" वाले भाषण तक में इन शहीद हुए हिन्दुस्तानियों के प्रति सहानुभूति का एक भाव, उनके परिजनों के प्रति संवेदना का एक शब्द भी नहीं बोला। यह अनायास नहीं है ; यह वह निर्लज्ज धूर्तता है जिसे मौजूदा हुक्मरान अपनी चतुराई मानते हैं। किसान आंदोलन में मारे गए शहीदों की बाकायदा एक सूची है। पंजाब के विश्वविद्यालय के दो नामचीन प्रोफेसर्स इनमे से एक एक किसान के परिवार से बात करके उनकी माली और समाजी हैसियत का पूरा ब्यौरा इकट्ठा कर चुके हैं ; मगर कृषिमंत्री और उनकी सरकार को कोई जानकारी नहीं है। ठेठ राजधानी में सरकार की नाक के नीचे हुए हादसों की उस सरकार को खबर तक नहीं जिसके मुखिया "कार के नीचे आये कुत्ते के पिल्ले" तक की मौत से विचलित होने का दावा भरते हैं - जो हर आड़े टेड़े समय कुसमय में अपनी आँखों से टसुए बहाते हैं ; उन्हें नहीं पता कि उनके राज में, उनकी वजह से कितने मनुष्यों ने अपना बलिदान दे दिया है।

यह सेलेक्टिवनेस सिर्फ किसानो के बारे में नहीं है। यही क्रूर चुनिंदा स्मृतिलोप (सेलेक्टिव एमनीसिया) पिछली वर्ष इसी सरकार ने इसी संसद में दिखाया था जब उसने कहा था कि "कोरोना की मौतों के बारे में उसके पास कोई आँकड़ा नहीं है। इस देश में जिस बीमारी से 40 से 50 लाख तक मौतों की आशंका दुनिया जता रही थी उस देश की सरकार पूरी निष्ठुर दीदादिलेरी के साथ ऐसी किसी भी मौत की जानकारी न होने का दावा कर रही थी। यही स्मृति लोप बेरोजगारी, भुखमरी, जीडीपी और नोटबंदी के समय भी उजागर हुआ था।

विडम्बना की बात यह है कि इस झांसेबाज़ी की झक्क में कृषिमंत्री अपने ही कार्यकर्ताओं की मौतों को भी दरकिनार कर जाते हैं। दिल्ली की पलवल बॉर्डर पर भीषण ठण्ड में अगुआई करने वाले सरदार सुरेंदर सिंह कृषि मंत्री के गृह जिले ग्वालियर के चीनोर के भाजपा के बड़े नेता थे। पिछली लोकसभा में जब कृषि मंत्री तोमर ने ग्वालियर लोकसभा सीट से मामूली मतों से जीत हासिल की थी उस वक़्त चीनोर के सारे पोलिंग बूथ्स से चुनाव जितवाने वाले यही सुरेंदर सिंह थे।

वे नए भाजपाई नहीं थे। इन पंक्तियों के लेखक ने जब 1989 में लोकसभा चुनाव लड़ा था तब भी सुरेंदर सिंह भाजपा के लिए काम करते थे। तोमर भले उनकी मौत पर मातमपुर्सी करने नहीं गए हों, ग्वालियर के भाजपा सांसद विवेक नारायण शेजवलकर और पूर्व मंत्री अनूप मिश्रा हो आये थे। किसान आंदोलन में शहीद हुए ऐसे ही एक और भाजपा कार्यकर्ता ग्वालियर के ही सिगौरा ग्राम के शौकत हुसैन थे। क्या इन दोनों की मौतों का भी कोई आंकड़ा या सूचना भाजपा सरकार के पास नहीं है ?

कृषिमंत्री और उनके ऊपर वालों को यह पता होना चाहिये कि तीन कृषि कानूनों के बाद एमएसपी के बाध्यकारी क़ानून के बारे में एसकेएम से परामर्श के जरिये निश्चित समय सीमा में फैसला करने वाली एक समिति बन सकती है, बिजली क़ानून रुक सकता है और बातचीत जारी रह सकती है लेकिन ज्ज. और यह लेकिन अत्यंत निर्णायक तथा नॉन-नेगोशिएबल है ज. शहीदों के बारे राहत और मुआवजे, झूठे मुकदमों की वापसी एवं सिंघु बॉर्डर पर शहीदों का स्मारक बनाये बिना किसान घर वापस नहीं लौटने वाले।

पता नहीं जिस सरकार को कुछ भी नहीं पता उसे यह सच भी पता है कि नहीं पता कि कबीर बाबा कह गए हैं कि; "दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय। मरी खाल की सांस से, लोह भसम हो जाय।"

किसान आंदोलन में शहादत देने वाले तो इतने सबल थे कि निरंकुश हठ का अहंकार तोड़ गए। बाकी सब भी ध्वस्त करेंगे।

किसान आंदोलन ने खेती-किसानी को राजनीति का सर्वोच्च एजेंडा बना दिया

जनचौक ब्यूरो

शहीद भगत सिंह ने कहा था - "जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो वे किसी भी प्रकार की तब्दीली से हिचकिचाते हैं, इस जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिए एक क्रांतिकारी सिपाही पैदा करने की ज़रूरत होती है,अन्यथा पतन और बर्बादी का वातावरण छा जाता है। लोगों को गुमराह करने वाली प्रतिक्रियावादी ताकतें जनता को गलत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं। इससे इंसान की प्रगति रुक जाती है और उसमें गतिरोध आ जाता है"

क्या किसान आंदोलन ने इसी गतिरोध की स्थिति को तोड़ने का काम किया है? अगर मैं कहूं हाँ तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी। निश्चित ही देश में राजनीतिक और सामाजिक रूप से जो निराशा और डर का माहौल उत्पन्न हुआ था उसे तो तोड़ा ही है। साथ ही साथ जनआंदोलनों को भी ये आंदोलन काफी कुछ सिखाता है ,समाज में आंदोलनों को लेकर जो एक उदासी बन चुकी थी शायद अब वो इससे बदले और आंदोलनों को लेकर समाज में सकारात्मकता का रुझान बने। पिछले 1 साल में इस किसान आंदोलन ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं, ऐसे कई मौके आये (26 जनवरी पर लाल किले की घटना हो या फिर मई -जून कोरोना की दूसरी लहर) जब लगा कि आंदोलन कमजोर हो रहा है या ख़त्म होने की स्थिति में है। लेकिन सारे उतार चढ़ावों, सारे दमन को झेलते हुए अब किसान आंदोलन सफल होता दिख रहा है, हालाँकि महज तीन बिलों की वापसी ही इस आंदोलन की सफलता का पैमाना नहीं है जैसा कि सयुंक्त किसान मोर्चा ने एलान भी किया है- द्वह्यश्च की गारंटी का कानून अभी बाकी है, बिजली बिल और पराली के कानून की वापसी, आंदोलन के दौरान जिन किसानों पर अलग अलग धाराओं में जो केस लगाए गए हैं उन्हें हटवाना तथा अन्य और भी मसले हैं जिन पर आंदोलन अभी जारी है। लेकिन जो भी हो प्रधानमंत्री का तीन बिलों की वापसी की घोषणा करना इस आंदोलन के लिए एक महत्वपूर्ण पड़ाव तो है ही।

तो वह कौन से आयाम या पहलू रहे हैं जो किसान आंदोलन को अन्य आंदोलनों से खास बनाता है या जिन्होंने किसान आंदोलन को सफलता के शिखर पर पहुंचाया है चलिए एक-एक करके उन्हें टटोलने की कोशिश की जाये।

किसान आंदोलन का जो सबसे महत्वपूर्ण पहलू रहा है वो है आंदोलन को लेकर एक स्पष्ट समझ का होना। शुरू से ही किसान आंदोलन, आंदोलन के उद्देश्यों और ये आंदोलन किस के खिलाफ लड़ा जा रहा है उसे लेकर काफी स्पष्ट रहा है। सत्ता और पूंजीपतियों के आपसी गठजोड़ को जितना इस आंदोलन ने जनता के सामने एक्सपोज़ किया है शायद ही आजाद भारत के इतिहास में कोई अन्य जनआंदोलन कर पाया है। इस आन्दोलन की बुनियाद ही इसी बात पर थी की ये तीनों बिल पूंजीपतियों के फायदे के लिए बनाये गए हैं अगर ये लागू होते हैं तो एग्रीकल्चर सेक्टर भी निजी हाथों में चला जायेगा जिसका खामियाजा आखिर में जाकर किसानों और आम इंसान को ही भुगतना पड़ेगा।

सत्ता और पूंजीपतियों के गठजोड़ के साथ साथ भारत में कॉर्पोरेट मीडिया के चरित्र को एक्सपोज़ करने में भी आंदोलन पूर्णतः कामयाब रहा है। एक ऐसे देश में जहाँ सामान्यतया किसी भी मुद्दे पर ओपिनियन बनाने में मीडिया का काफी प्रभाव रहता हो और जहाँ अच्छी खासी आबादी निजीकरण के पक्ष में ही खड़ी हो (खासकर मध्यमवर्ग का अच्छा खासा हिस्सा) तो ऐसे में आंदोलन की तरफ से अम्बानी,अडानी के सामानों के बहिष्कार का कॉल देना या मंचों से डब्ल्यूटीओ की नीतियों को उजागर करना हो, या फिर गोदी मीडिया गो बैक के नारे लगना इन तमाम पक्षों को पुरजोर तरीके से उठाया गया। सत्ता और कॉर्पोरेट मीडिया के असली चरित्र के सवाल पर किसान आंदोलन शुरू से ही काफी स्पष्ट था और शायद इस लिए ही ये आंदोलन मीडिया और सत्ता के असली चरित्र को उजागर भी कर पाया।

इस आंदोलन का दूसरा जो महत्वपूर्ण पहलू रहा है वो है कि किसान आंदोलन न तो बाहरी दबावों से विचलित हुआ और न ही अपने आंतरिक विरोधाभासों के कारण बिखरा। मीडिया और बीजेपी की तमाम कोशिशें रहीं जिससे आंदोलन को भटकाया जा सके। कभी इसे खालिस्तानी एंगल देने की कोशिश की गयी तो कभी जाटों का आंदोलन कहकर प्रचारित किया गया, लेकिन तमाम प्रचारों और प्रयासों के बावजूद भी आंदोलन खेती,किसानी के सवाल पर ही टिका रहा। लेकिन ये इतना आसान भी नहीं था, क्योंकि जिस अंदोलन में धर्म की भी एक भूमिका रही हो या एक समुदाय विशेष की आंदोलन में काफी भागीदारी हो तो ऐसे में बहुत ही आसान हो जाता है आंदोलन का सिर्फ धार्मिक या जाति के सेंटीमेंट पर शिफ्ट हो जाना।

आंदोलन में एक धर्म के रूप में सिख समुदाय की जो अब तक भूमिका रही वो काफी सकारात्मक थी लेकिन जब आंदोलन पर धार्मिक संस्थान हावी होते दिखे तो आंदोलन ने उसके खिलाफ जाकर भी स्टैंड लिया (इसे सिंघु बॉर्डर पर निहंगों की घटना से समझा जा सकता है)आंदोलन के नेतृत्व ने खुल कर उस घटना का विरोध किया। ऐसे ही सिखों के आलावा एक समुदाय के रूप में जाटों की भागीदारी भी काफी चढ़ चढ़ कर रही है लेकिन यहाँ भी आंदोलन को सिर्फ एक जाति केंद्रित आंदोलन नहीं बनने दिया गया बल्कि इसके बरक्स इसे खेती, किसानी से जुड़े तमाम समुदायों को इस आंदोलन का हिस्सा बनाकर किसान आंदोलन को मजबूत किया गया। इसका श्रेय आंदोलन के नेतृत्व और उससे भी ज्यादा आंदोलन में भागीदार जनता को ही जाता है, क्योंकि भारत में धर्म या जाति के सवाल काफी सेंस्टिव होते हैं इस लिए किसान आंदोलन पर धार्मिक या जाति की छाप न लगने देना इस आंदोलन का काफी दमदार पक्ष रहा है।

इस आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे खूबसूरत पक्ष जो रहा है वो है आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी। ये शायद पहला ही ऐसा आंदोलन रहा होगा जिसमें ग्रामीण समाज से आने वाली महिलायें आंदोलन में बराबर की हिस्सेदार रही हों। एक ऐसे समाज में जहाँ अब तक दुनिया भर की राजनीति करने का ठेका केवल पुरुषों ने ही ले रखा हो तो ऐसे में आंदोलन में सामान्य महिलाओं का बराबर का हिस्सेदार होना हमारे राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। इस सन्दर्भ में इससे पहले सीएए, एनआरसी विरोधी आंदोलन भी एक मजबूत कड़ी रहा है। तो क्या अब ये कहा जा सकता है कि महिलाएं अब धीरे धीरे पब्लिक स्पेस में अपनी हिस्सेदारी को मजबूत करने में लग चुकी हैं,अगर ऐसा है तो ये बहुत ही सकारात्मक बदलाव होगा। इन दोनों ही आंदोलनों से शायद पुरुषों के नजरिये में कुछ बदलाव आये कि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मसलों पर सार्वजनिक रूप से राय रखने, बोलने या आंदोलन करने का जितना हक़ पुरूषों को है उतना ही महिलाओं को भी है।

किसान आंदोलन ने भारत के वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक परिदृश्य को भी काफी हद तक प्रभावित किया है। एक ऐसे दौर में जहाँ भारत की पूरी राजनीति हिन्दू मुसलमान पर आकर टिक चुकी हो और जहाँ अपने को धर्मनिरपेक्ष राजनीति का प्रतीक साबित करने वाली पार्टियां भी इससे लड़ने के बजाय उल्टा सम्प्रदायिकता के बहाव में बह चली हों वहां तो किसान आंदोलन ही एक ऐसा आंदोलन बन कर उभरता है जो बीजेपी की सांप्रदायिक राजनीति को मजबूती के साथ चैलेंज करता है। 2013 में मुजफ्फरनगर के दंगों के बाद बीजेपी की जो राजनीतिक जमीन तैयार हुयी उसी मुज़फ्फरनगर में किसान महा पंचायत में दोनों समुदायों के धार्मिक नारों का एक साथ लगना एक प्रत्यक्ष उदाहरण है जो बताता है की 2013 के दंगों के बाद दोनों समुदायों के बीच की खाई को भरने का काम अगर किसी ने किया है तो वो किसान आंदोलन ही है।

एक मायने में ये किसान आंदोलन अन्य आंदोलनों से इस लिए भी अलग है कि किसान आंदोलन ने खुद को 1 साल के भीतर काफी व्यापक किया है। अब तक जो भी आंदोलन रहे हैं वो जिन मुद्दों पर लड़े जाते थे सिर्फ उन्हीं तक सीमित रहते थे। लेकिन किसान आंदोलन में ऐसा नहीं रहा। किसान आंदोलन ने खेती किसानी के सवाल को तो उठाया ही लेकिन साथ साथ बेरोजगारी के सवाल को भी उठाया, यहाँ 4 लेबर कोड के खिलाफ श्रमिक संगठनों के प्रतिनिधियों ने मंचों से भाषण दिए ,आदिवासियों के जल,जंगल जमीन के संघर्षों के साथ भी एकता दिखाई गयी।और जो सबसे महत्वपूर्ण काम किसान आंदोलन ने किया वह है कि निजीकरण की बहस को देश के सामने फिर से खड़ा किया है। अगर देश में हर चीज निजी हाथों में चली जाएगी तो इससे किसका नुकसान और किसका फायदा होगा? इस तरह किसान आंदोलन ने खुद को एक व्यापक मोर्चे में तब्दील किया है।

अब आगे किसान आंदोलन किस तरह से आगे बढ़ेगा? एमएसपी गारंटी का कानून बनवा पाने में किसान आंदोलन सफल हो पायेगा या नहीं ये तो आगे वक्त ही बताएगा लेकिन इस आंदोलन से किसानों को जो हासिल हुआ है वह यह है कि भारत में 1992 के जिस नयी आर्थिक नीति के बाद से खेती किसानी और गावों के मुद्दे भारतीय राजनीति से गायब कर दिए गए थे अब भारतीय राजनीति फिर से खेती किसानी पर केंद्रित होती दिख रही है। और अगर ऐसा होता है तो ये किसानों, मजदूरों की लिए काफी बड़ी उपलब्धि होगी।